आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का काव्यशास्त्रीय अवदान

डॉ. देवेश कुमार मिश्र
सह आचार्य, संस्कृत संकाय
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू , नई दिल्ली
Email: dkmishra@ignou.ac.in

शोध- सारांश : संस्कृत भाषा का काव्यशास्त्र एक विशालतम काव्यशास्त्र है। वैदिक एवं लौकिक साहित्य के सन्धिकाल की वेला से ही संस्कृत काव्य जगत का परम्परा के रूप में प्रारम्भ है। वेदों में कविता के बीज और इसके नियमन करने वाले शास्त्रीय तत्व पाये जाते हैं। किन्तु शास्त्र की परम्परा के रूप में काव्य के शरीर के निर्माण और उसके आत्मतत्व का विचार आचार्य भरत से आरम्भ है। पण्डितराज जगन्नाथ के समय तक काव्यशास्त्र की परम्परा सम्प्रदाय के रूप में प्राप्त हुई। छ: सम्प्रदायों में विस्तृत संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्त पक्ष पर विचार करते हुए 21वीं शताब्दी में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने नवीन प्रस्थापना करने का प्रयास किया। जिसमें अलंकार को काव्य के लक्षण में आत्मतत्व के रूप में अलंब्रह्मवाद द्वारा स्थापित किया। काव्य के कारणों पर विचार करते हुए केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना। काव्यप्रयोजनों के लिए विचार करते समय आचार्य द्विवेदी ने तीन प्रकार के अभिनव प्रयोजनों का तार्किक रूप से वर्णन किया। इस प्रकार काव्य के शरीर और आत्मा के विचार की परम्परा में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान प्रतीत होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र विषयक दृष्टि

प्रोफेसर रेवाप्रसाद द्विवेदी को महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया गया है। इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थ हैं। जिनमें महाकाव्य तो हैं ही, इसके अतिरिक्त अन्य विधाओं में भी कवि ने सफलतापूर्वक कार्य किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आप कतिपय मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक माने जाते हैं। काव्यशास्त्र की परम्परा लगभग चार हजार वर्ष से अधिक पुरानी है। वेदों में काव्यशास्त्र के तत्व बीजरूप में पाये जाते हैं । किन्तु इसकी शास्त्रीय परम्परा के रूप में भरत मुनि के कालखण्ड से ही इसकी शास्त्रीय समृद्धि प्राप्त होती है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के द्वारा विरचित **काव्यालङ्कारकारिका** में संस्कृत साहित्यशास्त्र की पूरी परम्परा को तार्किक दृष्टि से देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ में उन्होंने नई दृष्टि से काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् वर्णन प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने काव्यशास्त्र की मान्यताओं को स्थापित किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र के जिन तत्वों को अभिनव दृष्टि से कवि ने काव्यालङ्कारकारिका में स्थापित किया है उनमें – अलंकार का लक्षण, काव्य मात्र में अलंकार की एकनिष्ठता, अलंकार की काव्यात्मता, अलंकार की वाक्यार्थता, अलंकार की अवाच्यता आदि का स्थापन है। यहाँ पर द्विवेदी जी के जिस अवदान का अध्ययन करना अभीष्ट है, वह एक मात्र नवीन तत्वों की स्थापना का सन्दर्भ ही है। यहाँ यह देखना है कि एक ओर रस सम्प्रदाय के मानने वाले आचार्यों ने रस की काव्यात्मता को काव्य की आत्मा के रूप में मान्यता दी तो दूसरी ओर अनेक आचार्यों ने गुण, रीति, वक्रोक्ति , औचित्य आदि की स्थापना की। आचार्य द्विवेदी ने काव्य की आत्मा के रूप में अलंकार को स्थापित करने का जो प्रयास किया है, उसमें हमें सबसे पहले इनके पूर्व अलंकार सम्प्रदाय पर संक्षेप में दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

साहित्यशास्त्र में अलंकार की मान्यता

संस्कृत साहित्यशास्त्र की परम्परा में मुख्य रूप से छ: सम्प्रदाय माने गये हैं। जिनमें रस, अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और औचित्य आते हैं। आचार्य भरतमुनि ने उपमा, रूपक, दीपक, यमक इन्हीं चार अलंकारों को माना । इन चारों में तीन अर्थालंकार हैं, यमक शब्दालंकार है। जिनमें अलंकार की स्थिति अर्थ के आश्रित रहती है, उन्हीं को अर्थालंकार कहते हैं।

©Indira Gandhi National Open University

इसका मतलब जहाँ पर शब्द से अधिक महत्वपूर्ण अर्थ हो । इसी प्रकार शब्दालंकार को भी जानना चाहिए। यह परम्परा आचार्य दण्डी के काव्यादर्श, भामह के काव्यालंकार, वामन के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह , रूद्रट के काव्यालंकार तक विकसित हुई । इस क्रम में भोजराज , जयदेव ,रूय्यक ,मम्मट , विश्वनाथ , अप्पयदीक्षित एवं पण्डित राज जगन्नाथ के रसगंगाधर नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तक अलंकारों के विकास की दीर्घ परम्परा दृष्टिगोचर होती है। कुल मिलाकर इनकी संख्या आचार्यों ने 432 तक पहुंचा दिया। आचार्य रेवाप्रसाद ने अलंकार के प्रकारों का विवेचन तो नहीं किया किन्तु उन्होंने अलंकार तत्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य किया। इस क्रम में अलंकार शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या भी करना अनिवार्य प्रतीत होता है। यह शब्द अलम् और कार्य दो शब्दों से मिलकर बना है। अलम् के अनेक अर्थ माने गये हैं-

1. अलम् शब्द पर्याप्त या पूर्णता के अर्थ का वाचक होता है । अमरकोश के आधार पर – **अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्** अर्थात् इसका अर्थ अलम्, भूषण, पर्याप्ति, शक्ति और वारण होता है। [1]

2. इस शब्द का निर्माण यदि 'अल्' प्रत्याहार से माना जाए तो यह व्याकरण के अनुसार स्वर एवं व्यंजन वर्णों के संयोजित रूप में दिखाई देता है। अर्थात् हिन्दी संस्कृत भाषा का एक संसार इसे मानना पडेगा।

3. 'अलम्' पद अल् भूषणादौ, परस्मैपदी धातु से निर्मित द्वितीयान्त

प्रातिपदिक माना जाता है।

4. अलंकार पद अलम् के साथ कृ धातु से घञ् प्रत्यय के योग से बना है। इसमें कारपद को स्वार्थक पद भी माना जाता है। जैसे ओंकार पद बनता है उसी प्रकार यह भी ।

इन्हीं उपर्युक्त आधारों पर आचार्य द्विवेदी के द्वारा अपने अलं ब्रह्म नामक ग्रन्थ में काव्य की अभिनव व्याख्या की गई है। जैसे-

ननु वेदवद् देववद् गुणवद्वा सुप्रसिद्धैव त्रयी परिभाषाणां साहित्ये काव्यमिति , नाट्यमिति साहित्यमिति चेति। आसु काव्यमित्यस्या प्रवृत्तौ शब्दः, नाट्यमित्यस्याः अर्थः साहित्यमित्यस्याश्च सम्बन्धो भवति निमित्तम । एतान्येव हि त्रीणि पदानि भगवतस्त्रिविक्रमस्य यैराक्रान्तमिदं विश्वं कणशः। अथ यः शब्द स वेदादिरूपः, अर्थो विभावादिरूपः सम्बन्धश्च भाव्यभावकभवादिरूपः। एतत्त्रिकस्यैव कृते उद्गीर्यते- शटदार्थौ सहितौ काव्यमिति। अयमत्र निगूढोऽयमभिप्रायः 'शब्दार्थौ सहितौ नाट्ये काव्यमित्यभिधीयते' इति । [2]

अर्थात् वेद तीन हैं, देवता भी तीन हैं और गुण भी तीन हैं। इस क्रम में काव्य, नाटय और साहित्य तीन प्रकार की परिभाषाएं प्राप्त होती हैं, जो शब्दार्थ सम्बन्ध रूपी साहित्य की ही होती हैं। यही वेद में वर्णित त्रिविक्रम के तीन पैर की भांति सम्पूर्ण वाङ्मय को समेटे हुए रहता है। आचार्य कुन्तक ने अलंकार शब्द को लोक में शोभा का वर्धक मानते हुए इसकी अतिशयता को कहा है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारकारिका में अलंकार जो लक्षण प्रतिपादित किया है वह इस प्रकार देखने योग्य है-

अलम्भावो ह्यलङ्कारःस च सौन्दर्यतत्कृतोः।

विभक्तात्मा विभुर्जीवब्रह्मोश्चिद्धनों यथा ।[3] काव्यालं.28

©Indira Gandhi National Open University

अर्थात् अलं भाव ही वास्तविक अलंकार है। वह सौन्दर्य के निष्पादक तत्वों और सौन्दर्य दोनों में रहता है। यह कैसे रहता है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं- जिस प्रकार एक ही चैतन्य तत्व जीव और ब्रह्म दोनों में रहता है। उसी प्रकार अलंकार तत्व भी सौन्दर्य और सौन्दर्य के निष्पादक तत्वों में रहता है। अत: यहाँ पर आचार्य का कहना है कि वेदान्त में प्रयुक्त महावाक्यों की तरह जीव और ब्रह्म की एकता का जिस प्रकार प्रतिपादन होता है। उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

इसी आधार पर आचार्य द्विवेदी ने काव्य में अलंकार को प्रतिष्ठा दी है। इनके अनुसार सौन्दर्य और अलंकार में कोई भेद नहीं है। इस बात की व्याख्या करते हुए इन्होंने पुन: एक दृष्टान्त दिया है-

अनलो भगवान् मूलभूतौ विश्वचमत्कृत:।

पुष्पवन्तावभिव्याप्य यथा सम्यग् विराजते।। [4] काव्यालं.29।।

यहाँ इस दृष्टान्त में इनका मानना है कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा में एक ही अग्नि तत्व विद्यमान रहता है, उसी प्रकार अलंकार भी सौन्दर्य में तथा सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाले तत्वों में होता है। इस क्रम में आचार्य द्विवेदी ने अंलकार शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियों को स्वीकार करते हुए अपने अलंकार सम्बन्धी मत को प्रतिष्ठित किया है। अलंकारों की प्रधानता को प्रमाणित करने के लिए रेवाप्रसाद जी ने अन्य दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। जैसे-

वटस्य बीजं वृक्षश्च महांछखाशतैर् वृत:।

तस्य चित्रं च यत् तत्राप्यलम्भावोऽयमीक्ष्यताम्।।

शैल: शिला तथा मूर्तिर्मृत्स्ना ना पिण्डस्तथा घट:।

एतत्त्रिकेऽप्यलम्भाव: सुमनोभिरवेक्ष्यताम् ।। [5]काव्यालं. 31-32।।

काव्ये सर्वेऽप्यलङ्कारा वाक्यार्थविधया विदाम्।

सम्बित्कुटीशुकायन्ते न लभन्ते च वाच्यताम्।। [6]काव्यालं. 42।।

उर्पयुक्त उदाहरणों में यह कहा गया कि मूल रूप में वटवृक्ष और हजारा शाखाओं से घिरा हुआ वटवृक्ष तथा किसी कलाकार द्वारा बनाए गए वटवृक्ष के चित्र में वटवृक्ष ही उपस्थित रहता है। वृक्ष बीज का विस्तार है। अत: भिन्न नहीं है। इसी प्रकार कविता में भी अलं भाव रूपी अलंकार सौन्दर्य एवं उसके निष्पादक तत्वों में विद्यमान रहता है। पर्वत और उसकी शिला और शिला से बनी हुई मूर्ति तथा मिट्टी , मिट्टी का पिण्ड और उससे बना घड़ा । इन दोनों दृष्टान्तों में भी वटवृक्ष जैसा तथ्य ही समझना चाहिए। इसी क्रम में काव्य के आत्मतत्व की सिद्धि के लिए आचार्य रेवाप्रसाद ने जो सिद्धान्त गढे हैं उनमें तीन मुख्य रूप से और देखे जा सकते हैं –

काव्यस्यांगपराक्षायामलंकारो हि नस्तत:।

दिवौकसामरण्यानां मधुमासो यथा गुरू:।। [7] काव्यालं. 25।।

अलङ्कारोप्यलंभावरूपो ज्ञानात्मक : परम्।

ज्ञानरूपे यत: काव्ये नाज्ञानात्मा भवेद् गुण: ।। [8] काव्यालं. 124।।

©Indira Gandhi National Open University

काव्ये धर्माश्च धर्मी च समवायश्च तद्गत: ।

सर्वमेतत् सदा संवित्स्वर्णपंजरज: शुक:।। काव्यालं. [9]125।।

उपर्युक्त उदाहरणों में कहा गया है कि जिस प्रकार देवताओं के उद्यान में मधुमास का ही महत्व होता है। वैसे ही काव्य के शरीर पर विचार करने पर अलंकार ही उसमें महत्वपूर्ण तत्व दिखाई देता है। शब्दज्ञान और अर्थज्ञान का सम्बन्ध ही काव्य होता है। यह सम्बन्ध कवि की प्रतिभा से जुडा होता है। अत: यदि यह कहा जाय कि ज्ञानात्मक काव्य रूपी अधिकरण में उपस्थित होने वाला अलम्भावात्मक अलङ्कार ज्ञानात्मक ही हो सकता है। ज्ञानात्मक काव्य में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं रह सकती जो ज्ञानरूप न हो। अत: अलङ्कार भी ज्ञानरूप होता है, ऐसा माने तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । काव्य में गुण, रीति, शब्दार्थ आदि धर्मों का समवाय सम्बन्ध रहता है। इसके लिए आचार्य ने कहा कि जिस प्रकार सुवर्ण के पिंजरे में बैठी शुकी में संवित रूप से चेतना रहती है उसी प्रकार काव्य रूपी स्थिति में भी प्रज्ञा, बुद्धि, धी आदि सभी रहते हैं। इन्हीं मतों से आचार्य ने समवायी, असमवायी और निमित्त कारणों का उल्लेख करते हुए अलंकार के आत्मतत्व की सिद्धि का तर्क दिया है।

आचार्य रेवाप्रसाद की मान्यता है कि आगम और निगम ही संस्कृत कविता की पृष्ठभूमि बनते हैं। इन्होंने अलं ब्रह्मवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन में जो युक्त दिया है। वह साहित्यशास्त्र का महावाक्य है। आचार्य ने कविता को भी ब्रह्मविद्या के समान नि:श्रेयस का साधक माना । इस सिद्धान्त की सिद्धि के लिए रेवाप्रसाद द्विवेदी को अग्निपुराण के 337 से 47 तक वर्णनों का सहारा लेना पड़ा है। निर्णय सागर प्रेस से 1936 में प्रकाशित साहित्यदर्पण के परिशिष्ट में अग्निपुराण का जो मूल प्रकाशित हुआ, उसमें ब्रह्म के पर्याय के रूप में निम्नलिखित कारिका प्राप्त हुई –

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमलं विभुं।

वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।। [10] अग्निपुराण 339. 1 ।।

ऊपर की इस उदाहरण में ब्रह्म के वाचक पदों में 'अलम्' पद की प्राप्ति हो रही है। पाठ भेद में कहीं-कहीं अजम् मिलता है। किन्तु यहाँ पर अलं को ही प्रामाणिक माना गया है। इस सिद्धि में आचार्य का मानना है कि अलंकार पद में प्रयुक्त अलम् शब्द ब्रह्म का पर्याय है। नि:श्रेयस की सिद्धि ही कविता का अन्तिम लक्ष्य है। अत: यहाँ पर इन्होंने शास्त्रों के लक्ष्य से समानता स्थापित की है। इनका मानना है कि अलम् पद ब्रह्म का वाचक होकर सम्पूर्ण कविता को आगमों की तरह दार्शनिक आधार प्रदान करता है । अत: अलंकार पद कविता में पूर्णता का नियामक तत्व है। अब यहाँ प्रश्न आता है कि किस बात की पूर्णता ? तो उत्तर होगा आनन्द की पूर्णता । ऐसा होते ही गुण, रीति, रस आदि जो काव्य धर्म है वे सब अलंकार की परिधि में आ जाएंगें और वे ही पूर्णता के नियामक बनकर अलंकार कहलाएंगे। व्याकरण शास्त्र के सम्प्रदान कारक में आए हुए उदाहरण- **दैत्येभ्यो हरिरलम् ,** [11] में दैत्यों का विनाश करने के लिए हरि अर्थात् विष्णु पर्याप्त हैं, समर्थ भी हैं और शक्तिशाली भी हैं। अत: इस प्रयोग में तो अलम् पद शक्ति और पर्याप्ति का ही वाचक है।

काव्यशास्त्र के उपर्युक्त सिद्धान्त को आचार्य रेवाप्रसाद ने प्रवर्तित किया है। इसी सिद्धान्त के अभिनव महावाक्य अलं ब्रह्म की स्थापना इन्होंने अपने ग्रन्थ (अलं ब्रह्म) में की है। इसमें सम्पूर्ण वर्णमाला अपनाई गई है। शब्दों की सृष्टि और अर्थों की सृष्टि अपनाई गई है। जैसे-

आगमोऽग्निपुराणेऽस्य कथितस्त्वहमागम: ।

अकारादिर्हकारान्ता सृष्टि: शब्दार्थयोर्मता ।।

अहमेवास्त्यलङ्कार: कारस्य स्वार्थतासृतौ ।

©Indira Gandhi National Open University

ब्रह्मौवाभिहितं नान्यदिहालमिति संज्ञया ।।

अरंपदे श्रुतिर्या तु रेफात्मा सैव लश्रुतिः।

कालस्य पर्यये जाता तमेवार्थं विवृण्वती ।। [12] काव्यालं. 10- 12 ।।

अर्थात् अलम् पद ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का वाचक नहीं है। वैदिक पद अरं में र की श्रुति ही ल की श्रुति में कालक्रम के अनुसार बदल कर अलंकार शब्द की श्रुति में उपस्थित हो गई है। इस प्रकार इनकी मान्यता में साहित्यशास्त्र भी ब्रह्मविद्या का प्रतिपादक हो जाएगा। आचार्य द्विवेदी के अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा है, क्योकि आनन्द की पूर्णता नियामक होकर वही काव्य में पाया जाता है। रस सहृदय में रहता है। किन्तु उसकी व्यंजक सामग्री जो अलंकार है, वह शब्दार्थरूपी काव्य में पाया जाता है। रस को काव्य की आत्मा मानने पर अन्य के शरीर में पाए जाने वाले धर्म को ही अन्य नियामक मानना पडेगा। ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार की स्थिति में काव्य में प्राप्त होने वाले अलंकार को ही काव्य की आत्मा माना जाना तर्कसंगत है। ध्वनिवादियों ने अलंकार को शब्दार्थ से वाच्य माना, यह असंगत कहा जा रहा है । क्योंकि अलंकार वाक्यार्थरूप होता है । जो भी तत्व संसर्ग की मर्यादा के कारण अवभासित होता है। वह कभी भी वाच्य नहीं हो सकता । अलंकार कविता का अभिन्न अंग है, उसके बिना काव्य की परिकल्पना करना ठीक नहीं। अत: रेवाप्रसादद्विवेदी के मत में अलंकार काव्य का आत्मतत्व है।

काव्यलक्षण , काव्यहेतु और काव्यप्रयोजन

आचार्य भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक की आचार्य परम्परा में प्राप्त काव्यलक्षण, काव्यहेतु एवं काव्यप्रयोजनों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उक्त तीनों तत्वों के लिए आचार्य रेवाप्रसाद ने अपने अतिरिक्त मत की स्थापना का प्रयास किया है। अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारकारिका में काव्य का जो नया लक्षण प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है-

आनन्दकोषस्योल्लासे शब्दब्रह्मविभाविता ।

अलङ्कृतार्थसंवित्ति : कविता सर्वमङ्गला।। [13] काव्यालं. 1

अर्थात् आचार्य द्विवेदी के अनुसार अलंकृत अर्थ की संवित्ति अर्थात् चैतन्य का विमर्श ही कविता है। आनन्दकोष के उल्लास के लिए शब्दब्रह्म से प्रेरित लोकोत्तर विभावन , व्यापार ही संवित्ति के भीतर रहता है। लोकोत्तर होने के कारण ही वह काव्य के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं पाया जाता। कविता का यही स्वरूप सर्वमंगलकारी होता है।

यहाँ पर आनन्दकोष, शब्दब्रह्म, उल्लास, सर्वमंगला आदि शब्दों के प्रयोग से आचार्य ने बहुत गम्भीर स्थापना किया है। क्योंकि ये सभी शब्द अपने आप में महत्तम गम्भीरता और अर्थ को धारण करने वाले हैं। संवित्ति को केन्द्र में रखा है। आगे चलकर आचार्य ने काव्य को ज्ञानरूप कहा है।

देखने योग्य यह है कि उक्त काव्यलक्षण में रचना पक्ष की प्रधानता तो है ही, बल्कि सहृदय के हृदय में होने वाली रसानुभूति का अथवा आनूभूतिक परिणाम का समाधान भी दिया गया है। वेदान्त में मान्य जीवात्मा की आनन्दकला को ही अपने काव्यलक्षण में द्विवेदी जी ने आनन्दकोष कहा है। उसको उद्बोधन ही उल्लास है। उसी को जगाना तो कविता का मुख उद्देश्य है। कविता लोकोततर चमत्कारकारी साधनों द्वारा सहृदय के भीतर आनन्दकोष का उल्लास करती है। इसी से

©Indira Gandhi National Open University

उत्पन्न होने वाला ज्ञान या विमर्श ही संवित्ति है और वह अलंकृत अर्थ से समन्वित रहता है। अब यहाँ अलंकृत अर्थ आते ही काव्यशास्त्र के सभी तत्वों की उपस्थिति हो गयी । तब आचार्य के मत में ऐसी कविता सर्वमंगला कहलाती है। पार्वती जी को अमरकोष में सर्वमंगला कहा गया है। वैदिक और लौकिक दोनों अर्थों की मंगला भी सर्वमंगला है। सम्पूर्ण विचार एवं विशेष तात्विक मान्यताओं सवे सम्पन्न होते हुए आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्य का स्वरूप लक्षण प्रतिपादित किया है-

विकल्प: सुन्दर: काव्यमिति काव्यस्य लक्षणम्

सर्वसहं भवतयत्र प्रमाणं श्रीपंतञ्जलि: । [14] काव्यालं.31

सुन्दरो विकल्प: काव्यम् । अर्थात् सुन्दर विकल्प काव्य होता है।

काव्यलक्षण में तीन परम्पराएं पायी जाती हैं-

1. शब्दार्थोभयकाण्यतावादी – भामह आदि
2. घ्वनिवादियों की अर्थैककाव्यता का मत
3. शब्देककाव्यतावादी मत ।

जैसे- पण्डितराज जगन्नाथ आदि। इन तीनों लक्षण मार्गों से ओतप्रोत एवं भिन्न काव्यलक्षण का महत्तम स्वरूप आचार्य द्विवेदी ने संस्कृत काव्यशास्त्र को दिया है। शब्दार्थ शरीर और रमणीयता पर तो पूर्व के आलंकारिकों ने विचार किया ही था, किन्तु अलंकृतार्थ संवित्ति और सर्वमंगला शब्द से कोई संकल्पना सम्भवत: नही दी। अत: रेवाप्रसाद प्रणीत काव्यलक्षण अत्यन्त विशिष्ट है। तार्किक प्रयास हे आचार्य का।

काव्य के हेतुओं के विषय में भी साहित्यशास्त्र के मौलिक आकर ग्रन्थों से प्रारम्भ करके पण्डितराज के कालखण्ड तक कविता के कारणों पर विचार करते हुए, लक्षण प्रतिपादित करते हुए आचार्य देखे गये। काव्यालंकारकारिका में आचार्य रेखाप्रसाद ने प्रतिभैकारणता को ही स्वीकार किया। प्रतिभा ही काव्य का कारण है। अर्थ का अवभासन प्रतिभा है। यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार मेघमाला के भीतर बिजली की चमक होती है। मेघमाला प्रज्ञा है। आचार्य कहते हैं-

कारणं प्रतिभा काव्ये सा चार्थ प्रतिभासनम् ।

प्रज्ञा कादम्बिनी गर्भे विद्युदुद्योत सुन्दरम् ।। [15] काव्याक. 2

प्रज्ञा ही कादम्बिनी है अर्थात् मेघमाला। विद्युत का चमकना ही अर्थ का प्रतिभासन है। पण्डितराज जगन्नाथ को लक्षित करके आचार्य ने प्रतिभा के निम्नलिखित प्रकार बताये हैं-

1. स्वभावोपपादिता : - निसर्ग, जाग जाना,
2. चरणोपपादिता – तपश्चरण, जैसे तपश्चर्या द्वारा प्राप्त शक्ति से बातों को जान जाना ।
3. अभ्यासापपनादिता ।
4. योगोपपादिता ।
5. अदृष्टोपपादिता
6. विशिष्टोपिहता – विशिष्ट अवसर पर विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा प्राप्त विशिष्ट शक्ति ।

©Indira Gandhi National Open University

जैसे- दिव्यदृष्टि आदि । प्रतिभाज्ञानैकरूप है। काव्य ही प्रतिभा का बाह्य प्रकाशन है।

यथा- **प्रतिभा ज्ञानैकरूपं हि वाह्यत्वं तत्र न क्षमम् । प्रतिभा ज्ञानरूपा यत् काव्यत्वेन प्रकाशते** ।।

काव्य प्रयोजन के प्रतिपादन में भी आचार्य रेवाप्रसाद की प्रतिभा निखरती हुयी प्रतीत हो रही है1 आचार्य द्विवेदी मानते हैं कि- काव्य के निर्माण के लिए कवि की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। वह किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए काव्यकर्म नहीं करता। जैसे – प्रभातबेला में पक्षियों के कलरव का क्या प्रयोजन ? वाल्मीकि एषणा रहित थे। आचार्य द्विवेदी ने कुछ नये प्रयोजनों को बताते हुए कहा है लोक कल्याण और उसकी उन्नति ही प्रयोजन है। इनके अनुसार निम्नलिखित प्रयोजन है-

1.युग के आवश्यकता की पूर्ति भी काव्य का प्रयोजन है-

युगावश्यकतापूर्ति – मन्त्र – व्यक्तिरपि क्वचित ।

प्रयोजनं, रघुव्यक्तौ रघुवंशे यथा कवे:।। [16] काव्यालं. 13 ।।

इस परिभाषा में आचार्य का मानना है कि कविता के निर्माण में उस मन्त्र की अभिव्यक्ति ही प्रमुख प्रयोजन है । जिसकी उपस्थिति में युग के आवश्यकता की पूर्ति हो सके। उदाहरण दिया है कि रघुवंश महाकाव्य में रघु की अभिव्यक्ति राष्ट्र की रक्षा के लिए आवश्यक थी । आगे धर्म रक्षा को कविता का प्रयोजन मानते हुए कहते हैं।

2. धर्मरक्षा काव्य का अन्यतम प्रयोजन है-

अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यत।

काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवन- शासने ।। [17] काव्यालं. 14 ।।

जब अर्धम बढ रहा हो तो समाज की रक्षा के लिए काव्य की रचना होनी चाहिए । जैसे- तुलसीदासकृत रामचरितमानस ।

1. रेवाप्रसादद्विवेदी के मत राष्ट्र एक देवता है। राष्ट्रदेव का प्रबोधन काव्य निर्माण का प्रयोजन है-
राष्टदेवप्रबोधोऽपि विश्वदैवतसाक्षिक: ।
काव्यप्रयोजनं पुंभ्य: पुमर्थाश्चतुरो दुहन् ।।

इदंप्रयोजने नाट्याचार्यस्य भरतस्य न: ।

वेदशास्त्रे प्रयोगाश्च तदाश्रित्य प्रवर्त्तिता: ।। [18] काव्यालं. 14-15 ।।

भरतमुनि ने इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए नाट्यशास्त्र की रचना की आचार्य द्विवेदी के अनुसार काव्य के निर्माण का कोई प्रयोजन व्यक्तिगत रूप से कवि का नहीं होता माता के समान सामाजिकों की रक्षक होती है कविता । कविता अपने अध्येता के लिए सभी प्रकार के कलयाणकारी साधनों को उपलब्ध कराती है। द्विवेदी जी का मत है कि – **काव्यमपि रसिकत्वमात्रं पश्यति, न वर्णभेदान् न वा वर्गभेदान् परिस्रवति च पुरूषार्थपीयूषसारं निरर्गलधारम् ।**

©Indira Gandhi National Open University

इस प्रकार प्रतीत होता है कि - कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति का सिद्धान्त यहाँ पर लागू होता है। अर्थात् कविता बिना किसी बाधा के वर्ग तथा वर्ण के भेद की अनदेखी करते हुए अमृत की धारा सभी के ऊपर समान रूप से बरसाती है। कविता रूपी माता को कुमाता नहीं कहा जा सकता है। भले ही उसका अध्येता कुपुत्र की भाँति हो जाय।

निष्कर्ष : आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्यशास्त्र की परम्परा को एक धारा प्रदान किया है। आप जैसे विलक्षण आचार्य के न रहने पर साहित्यशास्त्र आपको सर्वदा ढूँढता रहेगा। काव्यलक्षण की परम्परा में आपकी प्रतिभा अग्रगामी है। काव्य के कारणों पर पूरी परम्परा का समादर करते हुए आपने प्रतिभा को छः भेदों के साथ परिभाषित करते हुए मुख्य रूप से कविता के निर्माण में प्रतिभा को ही कारण माना। प्रयोजन की दृष्टि आपकी अद्भूत है। युग की आवश्यकता, धर्मरक्षा और राष्ट्र देवता के प्रबोधन को काव्य का प्रयोजन मानते हुए आपने सम्पूर्ण समाज को एक रूचिकर मार्ग दिखाते हुए अपने मत की स्थापना किया है। इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों की परम्परा में रेवा प्रसाद जी का अभूतपर्व योगदान है तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

सन्दर्भ :

1. अमरकोश
2. अलं ब्रह्म, पृष्ठ 1 प्रकाशक: चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी ।
3. काव्यालङ्कारकारिका.28
4. काव्यालङ्कारकारिका.29
5. काव्यालङ्कारकारिका. 31-32
6. काव्यालङ्कारकारिका. 42
7. काव्यालङ्कारकारिका.25
8. काव्यालङ्कारकारिका.124
9. काव्यालङ्कारकारिका.125
10. अग्निपुराण 339. 1
11. नमः स्वस्ति – स्वाहा-स्वधाऽ लं-वषड्योगाच्च। अलम् इति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलम् , प्रभु : समर्थः इत्यादि। (अष्टाध्यायी 2.3.26)
12. काव्यालङ्कारकारिका 10- 12 ।।
13. काव्यालङ्कारकारिका 1
14. काव्यालङ्कारकारिका 31
15. काव्यालङ्कारकारिका 2
16. काव्यालङ्कारकारिका 13
17. काव्यालङ्कारकारिका 14
18. काव्यालङ्कारकारिका 14 – 15

©Indira Gandhi National Open University